सन् 1857 की क्रांति और संथाल आदिवासियों का विरोध

डॉ॰ राज कुमार

राजीव गांधी राजकीय महाविद्यालय

साहा (अम्बाला)

भूमिका :

आज से 160 वर्ष पहले 10 मई 1857 ई॰ को देश में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के खिलाफ मुक्ति युद्ध की शुरूआत हुई थी । इसलिए 10 मई का दिन ऐतिहासिक ही नहीं बल्कि महत्त्वपूर्ण भी है और इसका एक इतिहास भी है । जनता ने अपनी मुक्ति के लिए एक जोरदार अंगड़ाई ली तो दूर बैठी अंग्रेजी सरकार को आंखों की नींद हराम हो गई । विडंम्बना देखिए इस प्रथम भारतीय स्वतंत्रता संग्राम को जहां अंग्रेज इतिहासकारों ने सिपाही विद्रोह करार दिया और विदेशी चश्माधारी हमारे अपने अनेक इतिहासकारों ने उनके स्वर में स्वर मिलाया था वहीं विख्यात स्वतन्त्रता सेनानी सावरकर जिन्होंने अनेक तथ्यों और तर्कों के आधार पर इसे अंग्रेजों के खिलाफ भारतीयों के प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम के रूप में सिद्ध किया । स्वाधीन भारत के पहले प्रधानमंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू ने भी इसे गदर की संज्ञा दी है । सच तो ये है कि 1857 की जनक्रांति जिसे सिपाही विद्रोह और गदर कहा गया[प] वास्तव में यह किसान, सामन्तों और अभिजात्य वर्ग के अधिकारों पर अंगेजों द्वारा किए गए जोरों जुल्म अत्याचार का परिणाम था जिसको अंग्रेजों के दमन शोषण और अत्याचारों ने परवान चढ़ाया । यही वे हालात थे जिनके चलते विभिन्न वर्गों, धर्मों एवं सम्प्रदायों के लोगों ने ब्रिटिश हकूमत के खिलाफ एक होकर संघर्ष का फैसला किया ।

इसी देश के कुछ गद्दार स्वार्थी लोगों ने जिनमें पंजाब के कतिपय रजवाड़े भी शामिल थे, यदि उस समय इस आन्दोलन को सक्रिय सहयोग दिया होता या कम से कम अंग्रेज लोगों ने साथ मिलकर अपने ही लोगों के विरूद्ध तलवार न उठाई होती तो भी देश का इतिहास बदल गया होता । भले ही इस गद्दारी का ईनाम उन्हें पद, पदवियों या छोटे–छोटे भूखंडों के रूप में मिल गया हो परन्तु उन्होंने देश की स्वतन्त्रता को एक शताब्दी पीछे धकेल दिया फिर भी इस आन्दोलन ने अंग्रेज साम्राज्यवाद की नींव हिला दी यह एक ऐसा झटका था जिसका परिणाम 90 वर्ष बाद देश की स्वतंत्रता के रूप में सामने आया ।

ऐसा नहीं कि विदेशी दासता की पीड़ा इससे पहले महसूस न हुई हो और इसका प्रतिरोध और विरोध न हुआ हो परन्तु ये छुटपुट रूप में एक प्रयास थे जिन्हें नितांत निर्ममता और क्रूरता के साथ कुचला गया । ऐसा ही एक संघर्ष बिहार–झारखंड के आदिवासी संथालों द्वारा किया गया जिससे अंग्रेज शासक दहल गए थे । इसे हम भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम की पूर्व पीठिका और अंग्रेज सरकार को एक चेतावनी के रूप में अंकित कर सकते है । इसे अधिक स्पष्ट करने लिए हमें कुछ पीछे जाते हुए उन परिस्थितियों और कारणों का विश्लेषण करना होगा जिनसे ये विस्फोटक हालात पैदा हुए ।[पप]

अंग्रेज भारत में व्यापार की दृष्टि से आये थे । 16वीं सदी के उत्तरार्द्ध में लगभग सारा यूरोप भीषण आर्थिक मंदी के दौर से गुजर रहा था । इसका विशेष प्रभाव इंग्लैंड की अर्थव्यवस्था पर भी पड़ा जिसके फलस्वरूप यह चरमराने की अवस्था तक पहुंच गई । इस स्थिति से उबरने का एक ही उपाय था कि व्यापार के लिए नई मंडियों की खोज की जाए । इसके

लिए भारत में उन्हें अधिक से संभावनाएं नजर आयी । कुछ तिकड़मी व्यापारियों ने मिलकर ईस्ट इंडिया के नाम से नाम स्वार्थी कुटिल और षडयन्त्रकारी व्यापारिक संस्था खड़ी की जिसे सन् 1600 ई॰ में अंग्रेज सरकार ने भारत में कारोबार के अवसर तलाशने की अनुमति प्रदान कर दी । कोलकाता में ईस्ट इंडिया कंपनी का पहला कार्यालय खुला । यहीं से उसने अन्यत्र भी पैर फैलाने शुरू कर दिए । प्रारम्भ में विभिन्न नगरों में व्यापारिक केन्द्र स्थापित करने के पश्चात् ईस्ट इंडिया कम्पनी ने । 8वीं शदी तक आते–आते अपने राजनीतिक विस्तारवादी इरादे प्रकट कर दिए थे । जब एक के बाद एक अनेक छोटी–मोटी रियासतों को छल से या बल से अपने अधीन लाना शुरू दिया ।[पपप] सन् 1757 ई॰ में प्लासी की लड़ाई और 1763 ई॰ में हमें उधवनाला की जीत के साथ कम्पनी ने विहार–झारखंड में अपनी स्थिति मजबूत कर ली थी । यह क्षेत्र खनिजों और प्राकृतिक सम्पदा से भरपूर था । कम्पनी ने इसका दोहन शुरू कर दिया । सन् 1765 ई॰ में मुगल शासक शाह आलम द्वितीय से बंगाल तथा उड़ीसा की दीवानी छीन ली । इस पूरे भूखण्ड में अपनी सत्ता को और मजबूत बनाने के लिए इन लोगों ने डरा–धमकाकर या प्रलोभन से कुछ स्थानीय लोगों को भी साथ मिला लिया । स्थायी प्रबंध के नाम पर इन सबने मिलकर अत्याचार, आतंक, तिरस्कार और उत्पीड़न का ऐसा दमन चक्र चलाया कि सारा संथाल क्षेत्र त्राहि–2 कर उठा । युगों से उनकी बापौली रहे वन, पर्वत संथाल आदिवासियों के लिए पराये हो गए थे । उनके जीवन का आधार प्राकृतिक वनोपज पर उनका अधिकार नहीं रहा था । दैनिक चर्या के अभिन्न अंग मृगया पर पाबंदी लगा दी । इस पर बहु–बेटियों की इज्जत का लुटना और बोझ–बेगारी अलग था ।[पअ]

अतिशय अत्याचार और दमन अन्ततः विद्रोह को जन्मदाता है । यहां भी यही हुआ । यहां के आदिवासी अशिक्षित थे, नई रोशनी और प्रगति से अनभिज्ञ थे परन्तु वे वीर थे, जुझारू थे और अपनी आन पर मर मिटने वाले थे । वे विदेशी शोषकों के विरूद्ध उठने के लिए विवश हो गए । लगभग 100 साल तक उन्होंने कभी इक्कादुक्का तो कभी संगठित रूप में कम्पनी की सत्ता को बार–बार ललकारा था । फिर चाहे उनके विरोध को कठोरतापूर्वक कुचल दिया गया हो । इस प्रकार आजादी की लड़ाई का शंख 1857 से बहुत पहले ही इन संथाल आदिवासियों द्वारा सन् 1795 में फूंका गया । इस सिलसिले में सबसे पहला नाम तिलकामांझी का आता है जिसने कम्पनी सरकार की सत्ता को अस्वीकार करते हुए कर देने से इन्कार कर दिया । स्थायी प्रबंध के अन्तर्गत अंग्रेजों द्वारा थोपी गई व्यवस्था के विरूद्ध सन् 1798 ई॰ में तमाड़ क्रांति का बिगुल बजा था । 2 साल बाद दुरवन मांझी तत्पश्चात् सदन कोन्ता मुण्डा ने इस क्रान्ति को जीवित रखा । सन् 1831 ई॰ में सिंगराई मानकी के नेतृत्व में रंगभूम क्षेत्र में कोल क्रान्ति का ज्वालामुखी दहका । वस्तुतः यही लोग भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम के ध्वजवाहक थे जिन्होंने परवर्ती आन्दोलनों को पथनिर्देश दिए । इनके विरोध को क्रूरता से कुचल दिया गया । कितना खून बहा, कितनी जाने गयी इसका सही आंकलन न तो अंग्रेजों द्वारा लिखे इतिहास ग्रंथों में मिलता है और न उनके तलछट जीवों अन्य इतिहासकारों ने इसका ब्यौरा दिया उस क्षेत्र की लोकगाथाएं अवश्य इस नृशंश रक्तपात का हृदय विदारक वर्णन प्रस्तुत करती है जिससे जंगल की धरती खून से सन गयी थी तथा पर्वतों की चट्टानें लाल हो गयी थी । इस संघर्ष की अगली हुंकार सन् 1855 ई॰ में सुनाई दी जब सिदो मुर्मू तथा उसके तीन भाईयों कन्हू, चांद और भैरव ने संथाल युवा वर्ग को संगठित कर महान् हुल का नगाड़ा बजाया । जिसने कम्पनी सरकारी की नींव हिला दी । आदिवासी सिदो मुर्मु को लोक देवता का प्रतिनिधि मानते थे । उनके अनुसार वह प्रथम क्रान्तिकारी तिलका मांझी का नया अवतार था । उसके एक ईशारे पर सैंकड़ों नवयुवक प्राणों की आहुति देने के लिए उद्धत हो जाते थे । उसका संघर्ष 'अबुआ दिशोम' (यह हमारा देश है) के लिए था ।[अ] बाहर की दुनिया के साथ अधिक सम्पर्क न होने के कारण उसका अपना देश चाहे संथाल क्षेत्र तक ही सीमित था । परन्तु इस संघर्ष से जो चिंगारी फूटी थी उसी से आने वाले महासंग्राम की ज्वाला प्रज्ज्वलित हुई ।[अप]

सिदो का सपना था कि अंग्रेजों और उनके पिट्ठुओं को अपने क्षेत्र से खदेड़कर उसके जल, जंगल और जमीन पर एकाधिकार प्राप्त करना । उसके लिए मार्ग था अविरत संघर्ष ! उसकी 'हूल' विदेशी सत्ता के विरूद्ध भारतीयों की पहली संगठित और नियोजित लड़ाई थी ।[अपप] परन्तु यह दो असमान शक्तियों की टक्कर थी? एक तरफ अंग्रेजों की सशस्त्र सेना की बारूद उगलती हुई बंदूकें और तोपें और दूसरी तरफ आदिवासियों की पारम्परिक कुल्हाड़ी व तीर कमान जैसे हथियार, फिर भी उन्होंने निर्भिक होकर शत्रु का सामना किया । 'हुल' को प्रारम्भ में कुछ सफलताएं भी प्राप्त हुई । परंतु विशाल शत्रु सेना का मुकाबला कहां तक किया जा सकता था ? किसी सहायता या समर्थन के अभाव में हुल कमजोर पड़ गयी । सिदो को छल से पकड़कर अत्यन्त अमानुषिक ढंग से फांसी दी गयी और उसके साथियों को चुन–चुन कर मौत के घाट उतारा गया । इस आन्दोलन में हर आदिवासी परिवार का एक ना एक सदस्य अवश्य बली चढ़ा । लोगों की सामूहिक रूप में हत्याएं की गयी । अंग्रेजों की बर्बरता अपने क्रूरतम रूप में यहां देखने को मिली । रक्त की एक भी बूंद बहाए बिना आजादी प्राप्त करने का दंभ करने वालों को शायद इस रक्त की लाली नजर नहीं आयी । कुर्बानियों की यह लम्बी परंपरा प्रायः उपेक्षित ही रही ।[अपपप]

सिदो मुर्मु जीते जी 'अबुआ दिशोय' के अपने सपने को साकार होते नहीं देख पाया । मरते समय उसने कहा था "मैं मरूंगा लेकिन 'हुल' तब तक जीवित रहेगी जब तक अंग्रेज इस देश से निकल नहीं जाते । यह अलग–अलग रूपों में प्रकट होगी यह घटना सन् 1856 ई॰ की है ।[पग] सन् 1857 ई॰ में यही 'हुल' अपने उग्रतम रूप में प्रकट हुई । स्वतन्त्रता की इस यज्ञ ज्वाला में होम होने वाली इन हुतात्माओं को शत शत नमन ऽ

संदर्भ :

[प]. जवाहरलाल नेहरू, डिस्कवरी ऑफ इंडिया, दिल्ली, पृ॰ 185, अलवी सीमा, दा सिपाही एण्ड दा कम्पनी, आक्सफॉर्ड विश्वविद्यालय, 1996 पृ॰ 140

[पप]. एंडरसर कलेयर, इंडियन अपराईजिंग आफ 1857–58, न्यूयॉर्क, 2007, पृ॰ 217

[पपप]. विपिन्न चन्द्रा, इण्डिया स्ट्रगल फार इडिपैन्डस, दिल्ली, पृ॰ 41

[पअ]. विपिन्न चन्द्रा, इण्डिया स्ट्रगल फार इडिपैन्डस, दिल्ली, पृ॰ 43

[अ]. विपिन्न चन्द्रा, इण्डिया स्ट्रगल फार इडिपैन्डस, दिल्ली, पृ॰ 49

[अप]. एल॰ एस॰ एस॰ औ॰ माले, बंगाल डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, संथाल परगना, पृ॰ 120

[अपप]. विपिन चन्द्रा, पूर्वोक्त, पृ॰ 48

[अपपप]. टी॰ एस॰ बलोग्स, 1857 : म्यूटिनी इन संथाल, परगना, रांची, 2008, पृ॰ 49

[पग]. विपिन्न बिहारी सिन्हा, भारत का इतिहास, पटना, पृ॰ 357